International Journal of Advanced Educational Research
ISSN: 2455-6157
Impact Factor: RJIF 5.12
www.educationjournal.org
Volume 2; Issue 5; September 2017; Page No. 375-378

सनातन धर्म की अवधारणा : रामचरितमानस के परिप्रेक्ष्य में

श्री बालकृष्ण श्रीवास्तव, उमेश कुमार अग्निहोत्री
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, सीताराम समर्पण महाविद्यालय, नरैनी, बांदा, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

सनातन धर्म का व्युत्पत्ति अर्थ समझने के लिए सर्वप्रथम हम पाणिनि सूत्र द्वारा सनातन शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ समझेंगे। 'सना भव सनातनः'। सना एक अव्यय है जिसका अर्थ है 'सदा' अर्थात जो आदि से अन्त तक तथा अंत से अनंत तक विद्यमान रहे।''सायं–चिरं प्राह्वे–प्रगे अत्येयभ्यः ट्युटुलौ तुट् च।''[1] इस पाणिनी सूत्र से 'सना' अव्यय को ट्युल प्रत्यय होकर अनुबंध का लोप होकर 'युवोरनाकौ'[2] इस सूत्र से 'यु' का 'अन' होकर तुट का आगम होने पर सनातन शब्द बनता है। अतः यह प्रमाणित होता है कि व्याकरण की दृष्टि में सनातन का अर्थ है पदार्थ मात्र की सत्ता को रखने वाला यही इस सनातन शब्द का परमार्थ है।

सनातन का सम्मिलित अर्थ प्रस्तुत करते हुए ब्रह्मलीन स्वामी जी श्री भारती कृष्णतीर्थ जी महाराज जी कहते है कि –[3] सदाभव सनातनः, सनातनं करोति इति सनातनयतीति, सनातनयते सनातनः। सनातनश्चासौ धर्मश्च इति सनातनः धर्मः। तथा सनातनयति इति सनातनः अर्थात् सनातनं परमात्मरूपं प्रापयति इति। निष्कर्षः जो हमें परमात्मस्वरूप की प्राप्ति करवाता है, वह सनातन धर्म है अर्थात धर्म, सनातन इसलिए नहीं कि वह सनातन, परमात्मा द्वारा संस्थापित है तथा स्वयं में अविनश्वर है अपितु धर्म, सनातन इसलिये है क्योंकि इस धर्म में विश्वास रखने वाला तथा इस धर्म में चलने वाला सनातन हो जाता है। सनातन धर्म का अनुयायी अपने नित्य, शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानंद स्वरूप का साक्षात्कार करके परमात्मा के साथ एकाकार हो जाता है।

शब्द शास्त्र में सनातन धर्म का जो अर्थ है उसका प्रमाण कृष्ण यजुर्वेद (तैत्तिरीय आरण्यक) में भी प्राप्त होता है –

''धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिण्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्व प्रतिष्ठितम्।।
तस्मात् धर्म परमं वदिन्त।''[4]

धर्म ही सम्पूर्ण जगत अथवा जागतिक पदार्थों को प्रतिष्ठित (धारण) स्थिर करने वाला है। धर्मिष्ठ के पास प्रजाजन जाते है धर्म से ही पाप दूर होता है। धर्म में सब (पदार्थ मात्र) की प्रतिष्ठा – स्थिरता व सत्ता है। इसी कारण धर्म को सर्वोपरि कहा गया है।

धर्मशास्त्रों में मानव के प्रातः जागरण से लकर सुषुप्ति तथा स्वप्न तक के सारे विधान निर्दिष्ट है इनके द्वारा निर्देशित कर्मो के अनुसार आचरण करके मनुष्य के लोक तथा परलोक दोनों सुधर जाते है महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में कहते है कि धर्म के पाँच उपादान है।

''श्रुति स्मृतिः सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिटं स्मृतम्।।''[5]

(1) वेद (2) स्मृति (3) सदाचार (भद्रजनों के आचार व्यवहार) (4) जो आचरण आत्मा (परमात्म प्रकाश) को प्रिय लगे तथा विवेक सम्मत हो (5) उचित संकल्प से उत्पन्न इच्छा।

इस संदर्भ में यह ज्ञातब्य है कि धर्म शास्त्रों में जो कहा गया है उसका आधार वेद ही है किन्तु काल के साथ–साथ वैदिक कर्मों एवं मान्यताओं में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा है किन्तु भावों में व्याप्त सदाचार की परिभाषा इस प्रकार की गई है।

''तस्मिन देशे य आचारः परम्पर्य क्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां ससदाचार उच्चयते।।''[6]

चारों वर्णों, चारो आश्रम एवं वर्णाश्रम से हीन जाति वालों के लिए निज परम्परागत, प्राचीन सुसंस्कृत कर्त्तव्य या आचार ही सदाचार है।

तुलसीदास के राम (परब्रह्म) अपने द्वारा प्रतिपादित नियमों (सदाचरण) से युक्त मनुष्य को ही सच्चा सेवक मानते है।

''सोई सेवक प्रियतम मम सोई।
मम अनुशासन माने जोई।'' (मानस)

गोस्वामी जी ने रामचरित मानस में इन दोनों धर्मों के उत्कृष्ट उदाहरण चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत किये है जिनमें श्रीराम सामान्य धर्म के अभूतपूर्व आदश है, तथा लक्षण, सीता, हनुमान आदि विशिष्ट धर्म के अनुकरणीय पात्र है।

वैसे तो श्रीराम का चरित्र अपार है जिसकी महिमा को वेद भी वर्णित न कर सके उसको कोई तुच्छ प्राणी क्या वर्णित कर पायेगा फिर भी मुझे मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियाँ स्मरण हो रही है कि–

''राम तुम्हारा चरित स्वयं एक काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।''

रामचरित मानस में सनातन धर्म की विविधि भूमि –

गोस्वामी तुलसी जी ने सनातन धर्म की अवधारणा के अनुरूप ही मानस के मंगलाचरण में सरस्वती, गणेश, भवानी, गुरू, बाल्मीकि, हनुमान, सीता, राम, ब्रह्म, सुजनसमाज और संत समाज के साथ निश्छल भाव से खल जनों की भी वन्दना की है।

''बहुरि बंदि खल गन सति भाए।
जे बिनु काज दाहिनेहु बाऐं।''

गोस्वामी तुलसीदास जी का चिंतन किसी भी दृष्टि से किंचित मात्र

भी संकीर्ण नहीं है। उन्होंने 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' के रूप में ही सनातन धर्म के व्यापक स्वरूप का रामचरितमानस में यथा अवसर समावेश किया है सनातन धर्म का कोई एक ही रूप नहीं है। चराचर जगत में चौरासी लाख योनियों में समस्त जीव परमात्मा की सनातन प्रक्रिया में विचरण कर रहे हैं। गृहस्थ लोगों के गृह–धर्म का पालन करते हुए सनातन धर्म की महत्ता को आदर्श लक्षण के रूप में स्वीकार किया है। इसी प्रकार रामचरितमानस में ऋषिकुल, रघुकुल, पुलस्त्य कुल, राक्षसकुल तथा वानर कुल आदि का उल्लेख हुआ।
रामचरितमानस में राम ने एक आदर्श पति का चरित्र प्रस्तुत किया–

"मधुरवाणी सुमधुर व्यवहार। सदा करता आदर सत्कार
शुद्ध सुख पहुँचाता अविराम। यही पति–धर्म अमल अमिराम।"[7]

इस कविता के अनुरूप यदि मानस के राम का पति रूप में चारित्रिक अध्ययन किया जाय तो वह एक आदर्श पति के रूप में उभर कर आते है। इसी प्राकर गोस्वामी जी ने मानस में पत्नी की प्रसन्नता के लिए मृग की छाल लेने जाते समय लक्ष्मण को उनकी सुरक्षा हेतु आज्ञा देते है।

"सीता केरि करेहु रखवारी।
बुद्धि विवेक बल समय विचारी।"[8]

माता सुनयना द्वारा मानस में नारी धर्म का वर्णन किया गया है –

"सास ससुर गुरू सेवा करेहु।
पति रूख लखि आयसु अनुसरेहु।।"[9]

रामचरितमानस में सेवक को शूद्र ही नही बताया गया। सेवक पुत्र, माता इसी लिए मानस में सेवक का कर्त्तव्य है कि वह अपने से व्यक्ति की मनु वाणी तथा कर्म से सेवा करे भगवान राम सेवक के सन्दर्भ में कहते है –

"सेवक पद कर नयन सो। मुख सो साहिब जानि।"

अर्थात् जिस प्रकार भोजन मुख से ग्रहण किया जाता है किन्तु उससे सारा शरीर पोषित होता है उसी प्रकार स्वामी को अपने सेवकों का पालन पोषण करना चाहिए।
प्रत्येक कुल के कुछ नियम तथा रीतियाँ होती है जैसा कि रामचरित में मानस में श्रीराम के कुल का नाम राजा रघु के नाम पर पड़ा रघु के काल की रीति थी कि प्राण भले ही चले जाएँ पर वचन मिथ्या नहीं होना चाहिए –

"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं वरू वचन न जाही।"[10]

मता–पिता का सर्वोपरि धर्म अपनी संतान को उच्च संस्कार देना। माता का स्थान पिता से ऊँचा है यदि तुम पिता की आज्ञा से बन जा रहे हो तो मैं कहती हूँ कि मत जाओ किन्तु माता और पिता (कैकेई और दशरथ) दोनों ने यदि आज्ञा दी है तो वन भी तुम्हारे लिए सौ अयोध्याओं के सामान होगा। माता कौशल्या इतना कठोर धर्म पालन से पूर्व धर्म संकट में पड़ जाती है।

"धरम सनेह उमयँ मति धेरी। मई गति साँप छु छुदरि केरी।।
राखहुँ सुतहिं करउँ अनुरोधू। धरभु जाइ अरू बंधु विरोधू।।"[11]

राजा दशरथ सर्वप्रथम वधू के प्रति अपना धर्म समझते हुए पत्नी कौशिल्या से कहते हैं –

"बधू लरिकनी पर घर आयी। राखेहु नयन पलक की नाई।।"[12]

ऋग्वेद में वधू को ससुराल की ससुराल की सामाग्री कहा गया है अथर्ववेद वधू रूपी नारी के लिए कहता है –

"यथा सिन्धुनदीनां साम्राज्यं सुषवे वृषा
एवा त्वं सम्राज्यजि पुत्युरस्तं परेत्य य।।"[13]

जैसे नदियों में सिन्धु वैसे ही नारी का सम्मान होता था और उसकी आज्ञा का सभी पालन करते थे।
वेदों, उपनिषदों तथा धर्मशास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि अधर्माचरण करने वाला मनुष्य समाज द्वारा निर्धारित कानून से दण्ड पाये अथवा न पाये कर्म फल अवश्य पाता है – वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार –

"प्रात्यान्तं कर्मजस्तस्य यत्किचेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे।।"[14]

मनुष्य इस लोक में जो कर्म करता है परलोक में उसका भोगफल समाप्त कर पुनः इस लोक में कर्म करने के लिए आ जाता है।
तुलसीदास जी के अनुसार सारा विश्व कर्म प्रधान है प्रत्येक मनुष्य के उसके द्वारा ही गये कर्मों के आधार पर सुख और दुःख प्राप्त होता है –

"कर्म प्रधान विश्वकरि राखा।
जो जस करई तो तसफल चाखा।"[15]

रामचरितमानस में मित्र धर्म के विषय में विस्तृत व्याख्या दी गई है।

"धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपतकाल परिखअहिं चारी।"[16]

अर्थात् धैर्य, धर्म और नारी की पहचान आपत्ति काल में करनी चाहिए। "सकल सृष्टि गुणदोषमय विश्व कीन्ह करतार।" ऐसे भाव मन में रखकर जो मनुष्य क्षमाशील रहता है उसकी कीर्ति संसार में फैलती है। गुण और दोष प्रत्येक प्राणी में हो सकते है अतः दूसरे के गुण तथा अपने अवगुण देखना चाहिए। श्रीराम ने नवधा भक्ति में समाज धर्म का यह उपदेश इस प्रकार दिया है –

"आठँव जथा लाभ संतोषा।
स्पनेहु नहि दे खहिं पर दोषा।"[17]

अर्थात् कर्मफल में संतुष्टि तथा स्वप्न में भी किसी का दोष न देखना, क्योंकि सभी अपने–अपने कर्मानुसार भोगफल के अधिकारी है।
धर्म के चार पद है – तप, ज्ञान, यज्ञ एवं दान, तप सतयुग में, ज्ञान त्रेता युग में, यज्ञ द्वापर में तथा दान कलियुग का प्रधान धर्म है –

"तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापर यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।।[18]

इस प्रकार कलिकाल के समाज धर्म में दान की अत्यधिक महत्ता है। दान किसी भी प्रकार हो – विद्यादान, अभयदान, क्षमादान, कन्यादान, धनदान अन्न दान, रक्तदान आदि किन्तु सुपात्र को दान देना चाहिए अन्यथा समाज में विकृति आ सकती है।
राजा को चाहिए कि स्वयं धर्म परायण रहकर प्रजा को धर्म में लगाये। इस प्रकार धर्म नीति में तत्पर राजा चिरस्थायी कीर्ति प्राप्त करता है। राजा का लोक धर्म रामचरितमानस में वेद प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर इस प्रकार वर्णित है–

"भूपधरम जो वेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने।
दिन प्रति देइ विविध विधदाना। सुनइ सास्त्रबर वेद पुराना।।
नारा वापी कूप तडागा। सुमन वाटिका सुन्दर बागा।
विप्रभवन सुरभवन सुहाए। सब तीरथन्ह विनित बनाए।"[19]

आचार्य आनन्द वर्धन ने कवि (साहित्यकार) की तुलना प्रजापति से की है क्योंकि वह अपनी रचना के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के मानस पटल को परिवर्तित कर सकता है।

"अपारे काव्य संसारे कविरेको प्रजापतिः
यथास्मैरोचते विश्वं तथेदं परिवर्तिते।"[20]

इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि कवि कोई साधारण व्यक्ति नहीं बल्कि अलौकिक प्रतिमा सम्पन्न ऐसा मनुष्य है जो अपनी लेखनी के माध्यम से समाज का नेतृत्व करता है।
महर्षि बाल्मीकि और वेद व्यास जैसे महान कवियों ने ही मानव को ऊँचे आदर्श और उज्ज्वल परम्परायें तथा धर्म तत्व प्रदान किये। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए महाकवि तुलसी कहते हैं –

कीरति मनिति भूति भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।"[21]

साहित्य धर्मतत्व तक पहुँचने का प्रथम सोपान है, अतः साहित्य में धर्म का नियन्त्रण रहना अनिवार्य है कवि के लोक धर्म को स्पष्ट करते हुए महर्षि वेद व्यास महाभारत में कहते है –

"धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ
यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् चित्।।"

अतः धर्म नियंत्रित तथा लोक कल्याण भाव के निमित साहित्य की रचना ही कवि का धर्म है।
जिस प्रकार नदियाँ स्वयं अपना जल नहीं पीती, वृक्ष स्वयं अपने फल नहीं खाते, मेघ अन्न नहीं खाते उसी प्रकार सत् पुरूषों की सम्पत्ति भी दूसरों के हित के लिए होती है क्योंकि –

"परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोकाराय दुहन्ति गावः
परोपकारार्थमिदं शरीरम्।।"[22]

गोस्वामी तुलसीदास इन सभी तथ्यों का अनुमोदन करते हुए रामचरितमानस में दो लक्षणों पर विशेष बल देते है – (1) परोपकार (2) अहिंसा

"परहित सरिस धर्म नहि भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।"

मानव वही है जो सदैव परहित में संलग्न रहे यदि मनुष्य शरीर पाकर भी वह परपीड़क बनता है तो वह मानव नहीं अमानव कहलाता है।

उपसंहार

मानव जीवन में सनातन धर्म का कभी उपसंहार नहीं होता क्योंकि सनातन धर्म में कर्म प्रधानता की मूलभूत धारणा है –

"कर्म प्रधान विस्व रचि राखा
जे जस करै तो तसफल चाखा।" (रा0च0मा0)

जिस शरीर का जन्म हुआ है मृत्यु भी उसी की होगी और भरण संस्कार के पश्चात स्वर्ग या नरक भ्रमण के अनन्तर पुनर्जन्म भी होगा।
'क्षीणे पुण्ये मृत्यु लोके विशन्ति' पुण्य क्षीण हो जाने पर मृत्युलोक में जन्म लेना ही पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने जीवन से उत्तरार्ध में नाना पुराण निगमागम विविध ग्रंथों का अध्ययन, मनन, अनुशीलन करने के बाद रामचरितमानस के लेखन का संकल्प किया था।
गोस्वामी जी ने राम को केवल दाशरथि राम नहीं माना अपितु उन्हें जगत् नियन्ता परवहन परमात्मा और सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर रूप में परिकल्पित किया है। मेरी समझ में तो राम शब्द स्वयं में सनातन धर्म है, इसीलिए राम द्वारा प्रस्तुत किया गया सम्पूर्ण आचरण सनातन धर्म का उदाहरण है 'रामो विग्रहवान धर्मः (बाल्मीकि रामायण)
सनातन धर्म अपने विविध लक्षणों के माध्यम से चराचर जगत् में व्याप्त है। नकारात्मक आचरणों से मुक्ति हेतु सकारात्मक आचरण की महत्ता एक सनातन विशेषता है, इसलिए जो सवोत्कृष्ट है, सार्वभौमिक है, सार्वलौकिक है और सार्वजनीन है वह सनातन धर्म से अनुस्यूत है। धर्म संस्थापन हेतु शाश्वत सनातन और सर्वशक्ति सम्पन्न प्रभु किसी न किसी रूप में अपनी उपस्थिति और महत्ता चरितार्थ करते है।

सन्दर्भ

1. पाणिनि सूत्र – 4/3/23
2. पाणिनि सूत्र – 7/1/11
3. कल्याण धर्माक वर्ष 40, अंक 1, पृष्ठ सं0 08
4. तैत्तिरीय आरण्यक – 10/63
5. याज्ञवल्क्य स्मृति – 1/7/11
6. कल्याण – धर्माक वर्ष 40 अंक। के पृष्ठ सं0 311–315 से संकलित
7. कल्याण धर्माङक – पृष्ठ सं0–616 में उदघत कविता
8. रामचरितमानस – 3/27/9
9. रामचरितमानस – 1/334/5, 6
10. रामचरितमानस
11. रामचरितमानस – 2/55–3, 4
12. रामचरितमानस – 1/355–8
13. अथर्ववेद – 14/1/43
14. वृहदारण्यक उपनिषद – (4/4/6)

15. रामचरितमानस (2–/219–4)
16. रामचरितमानस (3/5–7)
17. रामचरितमानस (3/35–4)
18. तैत्तिरीयोपनिषद् (समार्तन सं0)
19. रामचरितमानस (2–/219–4)
20. कल्याण धर्मांक – पृष्ठ 660 में उद्धृत
21. कल्याण धर्मांक – पृष्ठ 661 में उद्धृत
22. कल्याण धर्मांक – पृष्ठ 409 उद्धरणे